लोकतंत्र और चुनाव सुधार

डॉ० स्नेहवीर सिंह
विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
दिगम्बर जैन कॉलेज, बड़ौत, बागपत
ईमेलः snehveer.pundir@gmail.com

सारांश

लोकतंत्र का आधार निर्वाचन है और निर्वाचन इतना खर्चीला है कि सामान्य व्यक्ति के लिए सोचना भी मुश्किल है। यदि कोई निष्ठावान कार्यकर्ता भी किसी राजनीतिक दल से चुनाव लड़ना चाहे तो पहले दल के लिए चंदे का प्रबंध करे, फिर किसी बड़े नेता की कृपा जुटाए और उसके बाद चुनाव में खर्च होने वाले करोड़ों रुपयों का इंतजाम करे, तभी वह चुनाव लड सकता है। राजनीतिशास्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी होना चाहिए कि चुनाव में करोड़ों रुपये फूंकने वाले ये लोग क्या देश सेवा की भावना से प्रेरित होकर इतना पैसा खर्च करते हैं या कई गुना वापस कमाने के लिए बिजनेस करते हैं? विचारणीय प्रश्न यह भी है कि यें धनपति, पूंजीपति जब सदन में बैठते हैं तो यह आम आदमी हित के नियमों का निर्माण करेंगे या अपने जैसे धनवान और पूंजीपतियों के पक्ष में? इस सबका परिणाम यह होता है कि सदन में केवल धनवान व्यक्ति के पहुँचने की संभावनाएं अधिक हो जाती हैं।

Reference to this paper should be made as follows:

Received: 27.02.2023
Approved: 21.03.2023

डॉ० स्नेहवीर सिंह

लोकतंत्र और चुनाव सुधार

RJPP Oct.22-Mar.23,
Vol. XXI, No. I,

pp.116-122
Article No. 16

Online available at *:*
https://anubooks.com/rjpp-2023-vol-xxi-no-1

लोकतंत्र की सर्वाधिक चर्चित और लोकप्रिय परिभाषा अब्राहम लिंकन ने दी थी, जिसमे लिंकन ने कहा था कि, "लोकतंत्र लोगों का लोगों के लिए लोगों के द्वारा शासन है।" लेकिन वर्तमान समय में लोकतंत्र के स्वरूप को देखकर प्रसिद्ध साहित्यकार प्रेमचंद द्वारा दी गई परिभाषा याद आती है जिसके अनुसार, " जिसे हम लोकतंत्र कहते है, वह व्यवहार में बड़े बड़े व्यापारियों और जमींदारों का राज्य है और कुछ नही। चुनाव में वही बाजी ले जाता है जिसके पास रुपये है। रुपये के जोर से उसके लिए सभी सुविधाएं तैयार हो जाती हैं। बड़े बड़े पंडित, बड़े बड़े मोलवी, बड़े बड़े लिखने और बोलने वाले, जो अपनी जुबान और कलम से पब्लिक को जिस तरह चाहें फेर दें, सभी सोने के देवता के पैरों पर माथा रगड़ते है। प्रेमचंद ने जो बातें लोकतंत्र के सम्बन्ध में कही थी, वो इस समय शायद ठीक ही मालूम देती हैं। इसके अतिरिक्त चालीस के दशक में ब्रिटेन के प्रो. लास्की ने भी व्यक्ति स्वातंर्त्य और आर्थिक समानता के बीच के द्वंद को 'अपने समय के सबसे बडे विरोधाभास' के रूप में देखा। हालाँकि सैद्धांतिक तौर पर लोकतंत्र गरीब–अमीर, ऊँचे–नीचे सभी व्यक्तियों को समान मानता है लेकिन वास्तविकता बिलकुल इससे उलट है। इसकी प्रक्रिया ही ऐसी बना दी गई है कि केवल धनवान व्यक्ति ही शासन के कर्ता–धर्ता बन सकते हैं।

लोकसभा चुनाव 2014 में लोकसभा में पहुँचने वाले सदस्यों की आर्थिक स्थिति को हम एक सारणी के द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं–

राजनीतिक दल	लोकसभा चुनाव 2014			लोकसभा चुनाव 2009		
	विश्लेषित सांसद	करोडपति सांसद	प्रतिशत %	विश्लेषित सांसद	करोडपति सांसद	प्रतिशत %
BJP	281	237	84	110	55	50
CONGRESS	44	35	80	199	141	71
AIADMK	37	29	78	09	05	56
AITC	34	21	62	19	07	37
SHIVSENA	18	17	94	11	09	82
TDP	16	16	100	06	03	50
BJD	20	14	70	14	06	43
YSRCP	09	09	100	00	00	00
TRS	11	09	82	02	02	100
LJP	06	06	83	00	00	00
SP	05	05	100	23	14	61
RJD	04	04	100	03	01	33
NCP	06	05	83	08	06	75
SAD	04	04	100	04	04	100
AAP	04	03	75	00	00	00
CPI(M)	09	03	33	16	01	06

IND	03	02	67	06	02	33
OTHERS	31	25	82	91	44	48
TOTAL	542	443	82	521	300	58

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि लोकसभा 2014 के चुनाव में संसद में पहुँचने वाले लोगों में से 82% सदस्य करोडपति हैं। जबकि अगर लोकसभा 2009 के आंकड़ों पर नजर डालें तो पता चलता है कि उस समय 58% सदस्य करोडपति थे। यही आंकड़ें अगर लोकसभा चुनाव 2019 के आधार पर जुटाए जाएँ तो पता चलता है कि करोडपति सांसदों का आंकड़ा बढकर अब 88ः हो चुका है। यह एक महत्वपूर्ण और चौकाने वाला आंकड़ा है जिससे पता चलता है कि राजनीति में लगातार धनवान लोगों की संख्या बढती ही जा रही है। संसद में लगातार बढ़ते जा रहे इन करोड़पतियों की संख्या किसी भी लोकतंत्र के लिए शुभ संकेत नही मानी जा सकती। आंकड़ों से स्पष्ट है कि भारतीय राजनीति के रंगमंच के अधिकाँश कलाकार करोडपति और अरबपति हैं। और तो और कालाहांडी की भुखमरी के लिए जाने गये उडीसा प्रदेश के विधानसभा चुनाव में 10–20 नही बल्कि 103 करोडपति उम्मीदवार थे। अगर दोबारा उम्मीदवारी कर रहे सांसदों पर एक नजर डाली जाए तो इनकी संक्या 396 रही है। इनकी 2009 में औसत संपत्ति 5.82 करोड़ रुपये थी जो 145% की वृद्धि के साथ 2014 लोकसभा चुनाव तक 14.29 करोड़ हो गई और 2019 में बढकर 20.93 करोड़ होगयी है। यही नही इस समय भारत की सरकार में 40 मंत्री करोडपति है जो कुल मंत्रिमंडल का लगभग 90% होते हैं। हालाँकि करोडपति होना कोई गलत बात नही मानी जा सकती लेकिन यह आंकड़े एक ऐसे देश के हैं जहाँ का योजना आयोग 32 और 26 रुपये पर लोगों को अमीर मान लेता है, जहाँ लगभग 84 करोड़ लोगों की रोजाना की आय 20 रूपया प्रतिदिन हो, 20 करोड़ लोगों को भरपेट भोजन नही मिलता हो, करोड़ों बेरोजगारों की फौज सड़कों पर आवारा घूमती हो, हजारों लाखों किसान कर्ज, भूख और गरीबी के चलते आत्महत्या को मजबूर हो जाते हों।

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि लोकतंत्र का सबसे महत्वपूर्ण कार्य लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना, लोगों के बीच बढती असमानता को कम करना है। लेकिन अगर कोई लोकतान्त्रिक व्यवस्था ऐसा करने में असमर्थ रही हो तो हमें सोचना पड़ेगा कि ऐसी व्यवस्था कहीं लोकतंत्र का भ्रम तो उत्पन्न नही कर रही है? यह लगभग निश्चित हो ही चुका है कि भारतीय लोकतंत्र टिकाऊ तो रहा है लेकिन आम जन की कसौटी पर वह खरा नही उतर पाया है। बदलावों के बजाय यह यथास्थिति को बनाए रखने का एक साधन बन गया है। इसके चुनाव धनबल, जातिबल, गनबल, सांप्रदायिकता व मौकापरस्ती के खेल बनकर रह गए है। बूथ पर कब्जा हालाँकि अब पुरानी बात हो गई है। लेकिन ज्यादातर पार्टियों व पेशेवर नेताओं ने पांच साल तक जनता की मुसीबतों को नजरअंदाज करके चुनाव के मौके पर धन, प्रलोभन, शराब, गुण्डों, जाति, सांप्रदायिकता, मीडिया जैसी चीजों का सहारा लेकर वोटों को जुटाने में महारत हासिल कर ली है। भारत में सत्ता के केन्द्रीकरण तथा चुनाव के पैमाने से भी इस में मदद मिलती है। लोकसभा तथा विधानसभा के एक चुनाव क्षेत्र में लाखों मतदाता होते है जिन्हें प्रभावित करने का काम बड़े धनपति और बड़े दलों के संगठित गिरोह ही कर पाते है। इतने बड़े चुनाव क्षेत्र दुनिया के किसी लोकतंत्र में नहीं होते हैं। फिर लोकतंत्र का मतलब महज चुनाव नहीं होता। विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका व खबरपालिका– इसके ये चारों स्तम्भ आम जनता के सेवक और अनुचर होने चाहिए, किंतु मामला बिलकुल उल्टा हो गया है। प्रशासनिक ढांचे का कायापलट, सरकारी हिंसा व दमनकारी कानूनों का खात्मा, लोगों का सशक्तिकरण और इसके लिए घोर गरीबी तथा अशिक्षा का खात्मा, सामाजिक–आर्थिक विशमताओं में कमी, लोकोन्मुखी व निष्पक्ष और ईमानदार

मीडिया, सत्याग्रह व सिविल नाफरमानी की गुंजाईश और सम्मान, इन जरूरी बातों को सुनिश्चित करके ही लोकतंत्र को सार्थक बनाया जा सकता है। किंतु यह काम अबतक नहीं हो पाया, क्योंकि ऊपर बैठे लोगों ने केवल अपने नीहित स्वार्थ को ही प्राथमिकता पर रखा।

अतः यह कहा जा सकता है कि भारत के लोगों को सरकारें बदलने का मौका तो मिला, लेकिन फिर भी उनके हालातों में कोई बदलाव नही हुआ। इसका कारण जनता में जागरूकता की कमी, भारतीय राजनीति में आई गिरावट और विकल्पहीनता है। इसमें लोकतंत्र के ढ़ांचे का दोश नहीं है। किंतु अभी तक के अनुभव से निकला सच यह है कि चुनाव एवं सत्ता का ढ़ांचा भी ऐसा है कि यह परिवर्तनकामी, ईमानदार व जनपक्षधर नेताओं एवं दलों को पनपने और टिकने ही नहीं देता। चुनाव इतना महंगा हो गया है कि साधारण और ईमानदार व्यक्ति चुनाव लड़ने के बारे में सोच ही नही सकते। वर्तमान लोकतंत्र केवल पैसे वाले लोगों के लिए है इसकी पुष्टि के लिए स्व. गोपीनाथ मुंडे द्वारा कही गई बातों को उधृत करना समीचीन होगा। मुंडे ने कहा था कि पिछले लोकसभा चुनाव में उनका चुनावी खर्च आठ करोड़ रुपए के आसपास बैठा था। इस सच्चाईपूर्ण बयान के लिए चुनाव आयोग ने उनको नोटिस थमा दिया, जिस पर उनकी सफाई के बाद आयोग ने उन्हें सलाह देकर छोड़ दिया।

आयोग चाहता तो सीमा से ज्यादा चुनाव खर्च करने के लिए जनप्रतिनिधित्व कानून की धारा 10–ए के तहत उन्हें तीन साल तक चुनाव लड़ने से वंचित रख सकता था। लेकिन कागज में चकाचक और हकीकत में धकाधक वाली राजनीतिक खर्च की यह स्थिति क्या हमारा लोकतंत्र लंबे समय तक सह पाएगा? स्व. गोपीनाथ मुंडे के बयान को जितने हल्के ढंग से लिया गया वह दरअसल उतने हल्के ढंग से लिया जाने लायक नहीं है। उनके बयान से निकला सवाल हमारी राजनीति का सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण प्रश्न है।

इन पांच राज्यों में खर्च का सबसे कम औसत (46%) राजस्थान में रहा और उससे थोडा ज्यादा (48%) मध्य प्रदेश का था, जबकि मिजोरम, जहां सिर्फ आठ लाख की सीमा थी, पचपन प्रतिशत खर्च हुआ। अगर हम मुख्यमंत्री बनने वाले राजनेताओं के चुनावी खर्च पर निगाह डालें तो सर्वाधिक खर्च (चुनाव आयोग की सीमा का 66%) वसुंधरा राजे ने और सबसे कम खर्च (29%) अरविन्द केजरीवाल ने किया किया। केजरीवाल का दावा है कि उन्होंने अपना चुनाव सिर्फ 3.99 लाख रुपये में लड़ा है। शिवराज सिंह चौहान ने बुधनी में आयोग की सीमा का तिरसठ प्रतिशत और विदिशा में इकसठ प्रतिशत व्यय किया।

अगर यह व्यय सही है तो हमें किसी प्रकार की चिंता नहीं करनी चाहिए है और मान लेना चाहिए कि चुनाव पारदर्शी हो रहा है और किफायती भी। लेकिन आदर्शवाद की ओर बढ़ते चुनावों के इस माहौल में हम यह देखते हैं कि न तो अधिकाँश उम्मीदवार अपनी संपत्ति की सही प्रकार से घोषणा करते हैं और न ही उसके खर्चों में पार्टी के खर्च को शामिल किया जाता है। पार्टी के अलावा समर्थकों के खर्च और तमाम प्रचार एजेंसियों पर होने वाले खर्च की तो बात ही अलग है।

स्व. मुंडे ने 2009 के लोकसभा चुनाव के बारे में दावा किया था कि उन्होंने या उनकी जानकारी में पार्टी के कई उम्मीदवारों ने तकरीबन आठ करोड़ खर्च किए थे। तब एक लोकसभा सीट पर चुनाव खर्च की सीमा पचीस लाख रुपए थी। अगर गौर किया जाए तो गलती से स्वीकारा गया वह खर्च न सिर्फ सीमा से तीस गुना बैठता है, बल्कि वह उनकी घोशित 6.22 करोड़ की संपत्ति से भी ज्यादा है। हालाँकि उसके बाद चुनाव आयोग ने मंहगाई के मद्देनजर लोकसभा चुनाव की खर्च सीमा को बढाकर चालीस लाख कर दिया था।

अब इस सीमा को लोकसभा चुनाव के लिए सत्तर लाख रुपये और छोटे राज्यों के लिए 54 लाख रुपये कर दिया गया, तब भी स्व० मुंडे के बयान में बताई गई अनुमानित राशि आठ गुना से भी अधिक बैठती

है। ऐसे में काले धन और दूसरे लिहाज से आर्थिक और कानूनी कदम उठाने की जरूरत तो है ही, उससे पहले कम से कम नैतिक रूप से झूठ पर आधारित हलफनामे बंद होने चाहिए। आयोग की सीमा और राजनीतिक वास्तविकता का यह अंतर हमारे लोकतंत्र में एक प्रकार का पाखंड पैदा कर रहा है। और यह पाखंड ही हमें भ्रष्टाचार, अनैतिकता और फिर कॉर्पोरेट राजनीतिक तानाशाही की तरफ ले जाता है।

शासकों और पूंजीपतियों का यह रिश्ता जहां विकास के नाम पर राज्य को जनता से दूर ले जाएगा, वहीं वह द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले जर्मनी और इटली में उभरे नाजीवाद और फासीवाद की तरह तानाशाही का खतरा पैदा करेगा। अमेरिका के कई व्यापारियों ने मुसोलिनी में एक बेहतरीन बिजनेस एक्जीक्यूटिव देखा था और जर्मनी में नाजीवाद के उदय के काफी बाद तक जनरल मोटर्स के रिश्ते सरकार से बहुत अच्छे थे।

वर्ष 2004–05 से 2011–12 तक राष्ट्रीय दलों को मिले कुल चंदे में से व्यापारिक घरानों/पूंजीपतियों द्वारा दिया गया हिस्सा

औद्योगिक घराने : वित्त वर्ष 2004–05 से 2011–12 तक			
दल	**कुल चंदा (करोड़ रुपये में)**	**औद्योगिक घरानों/पूंजीपतियों द्वारा दिया गया कुल चंदा**	**प्रतिशत (%)**
कांग्रेस	187.56	172.25	92
भाजपा	226.46	192.47	85
एन.सी.पी.	12.35	12.28	99
सी.पी.एम.	05.71	01.78	31
सी.पी.आई.	03.80	0.11	03
कुल योग	435.87	378.89	87

उपरोक्त सारणी स्पष्ट करती है कि राजनीतिक दलों को मिले कुल चंदे का लगभग 87% औद्योगिक घरानों से आता है, तो सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है कि सदन में बैठे लोगों की निष्ठा आम आदमी के साथ होगी या पूंजीपति घरानों के, जिनकी वजह से वो लोग सदन में पहुँचते हैं?

इस लोकसभा चुनाव में कहा गया कि कांग्रेस ने अपनी और राहुल गांधी की छवि के निर्माण में इन दिनों पांच सौ करोड़ रुपए झोंका है इसके बावजूद भी वह इन सब इंतजामों में भाजपा के प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार को प्रचार में पिछाड नही सके, जिससे भाजपा द्वारा किये गये खर्च का अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है। इकोनॉमिक टाइम्स और नेल्सन का वह सर्वे जिसमें सौ में सत्तर सीइओ (मुख्य कार्यकारी अधिकारियों) ने मोदी को प्रधानमंत्री के तौर पर देखना चाहा था। जबकि उनमें से महज सात ऐसे थे, जो राहुल गांधी को प्रधानमंत्री के तौर पर देखना चाहते हैं। दरअसल, चुनाव खर्च तब बढ़ते हैं जब राजनीतिक दलों के पास कार्यकर्ताओं की कमी होती है और उन्हें उनकी जगह पर एपको वर्ल्डवाइड और रिडिफ्यूजन जैसी वैश्विक जनसंपर्क एजेंसियों का सहारा लेना पड़ता है। साथ ही प्रचार एजेंसियों की जरूरत उस समय भी पड़ती है, जब नेतृत्व वैसा होता नहीं जैसा उसे दिखाए जाने की दरकार होती है। इसी के साथ चुनाव खर्च बढ़ने का बड़ा कारण राजनीति और व्यापार का नापाक गठजोड़ और राजनीति का व्यापार बन जाना है। चुनाव में फूंका जानेवाला बेहिसाब धन ठेकेदारों, पूंजीपतियों, व्यापारियों और कॉरपोरेट घरानों के माध्यम से

ही आता है और बदले में वे चाहते हैं कि नीतियां उनके हित में बनें और सरकार गरीब जनता से ज्यादा उन्हें रियायत दे। और इस व्यवस्था में जो चुने जाते हैं, उन पर पांच साल तक मतदाताओं का कोई नियंत्रण नहीं होता।

भारत जैसे देश में जनतंत्र को चलाने के लिए हजारों (शायद लाखों) राजनैतिक कार्यकर्ता चाहिए। संसद, विधान सभा, जिला परिषद, ग्राम पंचायत आदि को मिला कर हजारों राजनैतिक पद हैं। प्रत्येक पद के लिए अगर दो या तीन उम्मीदवार होंगे, तब भी बहुत बड़ी संख्या हो जायेगी। इनमें से बहुत सारे कार्यकर्ता होंगे, जिन्हें पूर्णकालिक तौर पर सार्वजनिक काम में रहना होगा तो उनके परिवारों का खर्च कहाँ से आएगा? भ्रष्टाचार की बात करने वालों को इस यक्ष प्रश्न का गंभीरतापूर्वक उत्तर ढूँढना पड़ेगा।

पिछले 75 साल की राजनीति पर हम संवेदनशील हो कर गौर करें, तो इस बात से हम चमत्कृत हो सकते हैं कि हजारों आदर्शवादी नौजवान देश के भविष्य को संवारने और बनाने के लिए परिवर्तनवादी राजनीति में कूद पड़े थे। आज अगर उनके जीवन का विश्लेषण करेंगे, तो मालूम होगा कि उनमें से अधिकांश बाद के दिनों में (जब उनको परिवार का भी दायित्व वहन करना पड़ा), या तो अपने आदर्शों के साथ समझौता करने लगे और जो समझौता नही कर पाए वो राजनीति से हट गए। समझौतावादी लोगों को शुरू शुरू में निजी तथा सार्वजनिक जीवन की जरूरतों को पूरी करने के लिए छोटे–छोटे ठेकेदारों से भ्रष्ट प्रशासकों से या काले व्यापारियों से चंदा लेना पड़ा। बाद में जब लगातार खर्च बढ़ता गया और प्रतिष्ठा भी बढ़ती गई, तब बड़े व्यापारियों और पूँजीपतियों के साथ साँठगाँठ करनी पड़ी। अगर वे आज भी राजनीति में हैं, तो अब तक इतना समझौता कर चुके होते हैं कि भ्रष्टाचार या शोषण के विरुद्ध खड़े होने का नैतिक साहस ही नहीं बच पाता है। देश की राजनीति में पिछले 75 वर्ष का इतिहास आदर्शवादी कार्यकर्ताओं के सार्वजनिक जीवन में पतन और निजी जीवन में अभाव और हताशा का इतिहास है।

अगर शुरु से ही समाज का कोई ऐसा प्रावधान होता कि राजनीति में प्रवेश करनेवाले नौजवानों का प्रशिक्षण और पालन हो सके, और उनके लिए एक न्यूनतम आय की व्यवस्था हो सके, तो शायद वे टूटते नहीं, हटते नहीं, हारते नही और ना ही भ्रष्ट होने के लिए मजबूर होते। कम से कम 50 फीसदी कार्यकर्ता और नेता ऐसे होते जो बिलकुल स्वाधीन मिजाज के होकर रहते। अगर किसी जनतंत्र में 10–20 फीसदी राजनेता बेईमान होंगे तो देश का कुछ नही बिगड़ेगा। अगर 50 फीसदी बेईमान हो जायें, तब भी देश चल सकता है। लेकिन संकट तो यह है कि अब तो इस पर भी संदेह होता है कि सर्वोच्च नेताओं के 10–20 फीसदी भी देशभक्त और ईमानदार हैं या नहीं।

समाज के अभिभावकों का, देशभक्त कार्यकर्ताओं का संरक्षण समाज के द्वारा ही होना चाहिए। सारे राजनेताओं को हम पूँजीपतियों पर आश्रित होने के लिए छोड़ नहीं सकते। समाज खुद उनके रहन–सहन का, प्रशिक्षण का और प्रतिपालन का दायित्व ले। इस दायित्व को निभाने के लिए यदि कोई बनी बनाई संस्थाएँ नहीं हैं, तो सांविधानिक तौर पर राज्य के अनुदान से संस्थायें खड़ी की जा सकती हैं। जिस प्रकार न्यायपालिका राज्य के अनुदान पर आधारित है, लेकिन स्वतंत्र है, उसी तरह राजनेताओं का प्रशिक्षण और उनका पालन करनेवाली संस्थायें भी स्वतंत्र होंगी। हालाँकि प्रसिद्ध राजनीतिक चिन्तक प्लेटो यह बहुत पहले कह चुके हैं कि शासन तंत्र को भ्रष्टाचार से मुक्त रखने हेतु उनके सार्वजनिक रहन सहन और खर्च का इंतजाम करना होगा अन्यथा शासन व्यवस्था को भ्रष्टाचार के गर्त से कोई नही बचा सकता।

और यह भी नही मानना चाहिए कि यह कोई विचित्र प्रस्ताव है। क्योंकि चरित्र के अभाव में ना कोई संस्था टिक सकती है और ना ही न्यायपूर्ण तरीके से कार्य कर सकती है। किसी भी समाज को सुचारू

रूप से चलने के लिए समर्पित कार्यकर्ताओं का एक समूह अवश्य चाहिए। आधुनिक युग के पहले संगठित धर्म ने कई देशों में सार्वजनिक जीवन का मार्गदर्शन किया। धार्मिक संस्थाओं ने भिक्षुओं, ब्राह्मणों, बिशपों को प्रशिक्षण और संरक्षण दिया, ताकि वे सार्वजनिक जीवन का मानदंड बनाये रखें। ग्रीस में और चीन में प्लेटो और कन्फ्यूशियस ने राजनैतिक कार्य के लिए प्रशिक्षित और समर्पित समूहों के निर्माण पर जोर दिया था। सिर्फ आधुनिक काल में सार्वजनिक जीवन के उच्च मानदंडों और नैतिकता को बनाए रखने की कोई संस्थागत प्रक्रिया नहीं तय की गयी है। इसलिए सारी दुनिया का सार्वजनिक जीवन अस्त–व्यस्त है। सार्वजनिक जीवन का दायरा बढ़ गया है, लेकिन मूल्यों और आदर्शों को बनाये रखने की संस्थायें नहीं हैं।

संविधान के तहत या राजकोश से राजनीति का खर्च वहन करना भी कोई नयी बात नहीं है। सभी सांसदों और विधायकों का खर्च राजकोश से ही दिया जाता है। लेकिन किसी भी ईमानदार और नैतिक कार्यकर्ता के लिए वहां तक पहुँचने का रास्ता ही बिना भ्रष्ट हुए सम्भव दिखाई नही देता। एक पुरानी मांग है कि चुनाव का खर्च भी क्यों नहीं राजकोश से ही दिया जाए? तो राजनीति का खर्च भी क्यों नहीं? जो लोग चुनाव में करोड़ों रुपये फूंककर और जीतकर किसी भी सदन में पहुँच गये हैं ऐसे राजनेताओं का जीवन बचाने के लिए केन्द्रीय बजट का प्रतिमाह करोडो रुपये खर्च होता है। करोड़पति सांसदों को भी वेतन, पेंशन, भत्ता और बाकि सभी सुविधाएं मिलती है जबकि इसके बिना भी उनका काम ठीक से चल सकता है। इनमें से कई अनावश्यक खर्चों को काट कर देशभक्त और ईमानदार राजनैतिक कार्यकर्ताओं के लिए एक सामाजिक कोश का निर्माण शुरु हो सकता है। हमें यह कभी नही भूलना चाहिए कि अगर विवेकशील लोग राजनीति में दखल नहीं देंगे तो भारत की राजनीति कुछ ही अरसे के अंदर पूंजीपतियों, अपराधियों और भ्रष्टाचारियों के हाथों में चली जायेगी।

सन्दर्भ

1. भाम्बरी, चन्द्रप्रकाश. (2009). भारत में लोकतंत्र. अनुवादक–अशोक मनोरम. नेशनल बुक ट्रस्टः इंडिया।
2. सिन्हा, सच्चिदानंद. (2010). लोकतंत्र की चुनौतियां. वाणी प्रकाशन।
3. राजकिशोर. (2012). मानव अधिकारों का संघर्ष. वाणी प्रकाशनः नई दिल्ली।
4. संधू, ज्ञान सिंह. (2011). राजनितिक सिद्धांत. हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालयः नई दिल्ली विश्वविद्यालय।
5. नारायण, डॉ० इकबाल० (2003). राजनीति विज्ञान के मूल आधार. ग्रन्थ विकास प्रकाशनः जयपुर।
6. राजकिशोर. (2009). नैतिकता के नए सवाल. वाणी प्रकाशनः नई दिल्ली।
7. ठाकुर, मनीन्द्र्नाथ. (2009). जनसत्ता–जनतंत्र की ताकत. 8 जून।
8. कुमार, अजेय. (2010). जनसत्ता–लोकतंत्र की नई दीमकें. 7 जुलाई।
9. पानीबाबा, अरुण कुमार. (2010). जनसत्ता–लोकतंत्र के सामंत. 30 मार्च।
10. चमडिया, अनिल. (2011). जनसत्ता–लोकतंत्र की जिम्मेवारियां. 24 फरवरी।
11. समस्त आंकड़े एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म्स और नेशनल इलेक्शन वाच से साभार।